खिलौनों का समाजशास्त्र*

सचिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

प्रस्तुत ललित विचारात्मक लेख में खिलौनों की सर्वव्यापकता और मानव जीवन में अनिवार्यता बताई गई है। इसमें खिलौनों को उपमा की तरह नहीं वरन् खिलौने के रूप में ही लिया गया है। खिलौने और सामाजीकरण, विभिन्न सभ्यताओं में प्रचलित विभिन्न खिलौने, भिन्न सामाजिक आर्थिक स्थिति के अनुसार बच्चों के खिलौनों में अंतर, बच्चों द्वारा खुद चुने गए व बड़ों द्वारा उन्हें दिए गए खिलौने आदि के उद्देश्यों में अंतर की चर्चा की गई है। खिलौनों के माध्यम से बच्चों को पूर्वाग्रहयुक्त भूमिकाओं के लिए तैयार करने का प्रयास, सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा व समझ उत्पन्न करने में खिलौनो की भूमिका भी बताई गई है। यह भी वर्णन है कि पहले के कस्बे-देहात के बच्चे टूटी चूड़ियों, कंकड़-पत्थर अर्थात बिना किसी उपकरण के अपने लिए अकेले ही खेल रच लेते थे। किन्तु यदि आज के सभ्य समाज के बच्चों के समूह को बिना खिलौने के कुछ भी करने को छोड़ दिया जाए तो वे तोड़-फोड़, मुक्के-बाजी, मारकाट आदि हिंसात्मक क्रियाओं की रचना में ही मन लगाएँगे। यह भी बताया है कि विभिन्न प्रदेशों के पारंपरिक खिलौने वहाँ की सामाजिक स्थिति व कौशल का दर्पण होते थे। खिलौने केवल खेल नहीं, ये समाज और संस्कृति से जुड़ी एक रचनात्मक कड़ी है।

खिलौनों से हम सभी खेलते हैं। रूपक के तौर पर इस बात को बढ़ाएँ तो यहाँ तक कह सकते हैं कि जहाँ निर्धन लोग धूल-मिट्टी से, बबूल की फली और इमली के चियों (बीज) से, पत्थर के टुकड़ों से, ठीकरों से या गुल्ली-डंडे से खेलते हैं, वहाँ अमीर लोग न केवल यंत्रचलित खिलौनों से और रेडियो या टेलीफ़ोन आदि से खेलते हैं, राजा-महाराजा देशों और सेनाओं से और सम्राट साम्राज्यों से खेलते थे। अब वैसे साम्राज्य नहीं हैं, लेकिन बड़ी सत्ताएँ आज भी

*'केंद्र और परिधि', नेशलन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1984, से साभार प्रकाशित.

बममार विमानों, प्रक्षेपास्त्रों और अणु विस्फोटों से खेलती हैं; महासागरीय द्वीपों की प्रजाओं के भाग्य से खेलती हैं लेकिन हम रूपक में बात नहीं कर रहे हैं, हम सीधे-सीधे खिलौनों की ही बात करना चाहते हैं। और वयस्कों के खिलौनों की नहीं, बच्चों के खिलौनों की ही। इन खिलौनों के समाजशास्त्र की चर्चा करना क्या ख़्वाहमख्वाह खेल को शास्त्र में उलझाना नहीं है? बच्चे के विकास में खिलौनों का स्थान होता है, इतना तो सभी आसानी से मान लेंगें। उससे आगे बढ़कर थोड़ी बाल मनोविज्ञान की भी चर्चा की जा सकती है, लेकिन समाजशास्त्र.... हाँ, समाजशास्त्र, लेकिन समाजशास्त्र तक पहुँचने से पहले बच्चे के विकास की और उसके मनोविज्ञान की चर्चा से ही शुरु करें।

कुछ खिलौने बच्चे स्वयं चुनते हैं और कुछ उनके लिए बड़ों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं— माँ-बाप द्वारा या अन्य सगे-संबंधियों द्वारा। आजकल तो बच्चे के जन्मदिन के बदले बर्थ डे मनाने का चलन हो गया है, जिसके कारण उनसे बड़ों को प्रणाम करा कर आर्शीवाद दिलाने की जगह जलसा करके केक पर लगी मोमबत्तियाँ बुझाने और खिलौनों के अंबार लगाने की प्रथा चल पड़ी है। लेकिन अब भी हर स्तर पर यह सही है कि बच्चे कुछ खिलौने अपने आप चुनते हैं और कुछ उनके लिए उपलब्ध करा दिये जाते हैं। कुछ बच्चे ठीकरें, काँच के रंगीन टुकड़े, माचिस की डिबियों, पन्नी या कंचे जुटाकर रखते हैं, तो कुछ, जिन्हें उनके माँ-बाप इसकी सुविधा देते हैं, अपनी पसंद से हवाई बंदूक या मोटरगाड़ी या जहाज़ और टैंक आदि ले सकते हैं, इसी तरह अलग-अलग स्तरों पर बच्चों को अलग-अलग किस्म के और अलग-अलग कीमत के, अलग-अलग जटिलता के खिलौने दिये जाते हैं।

खिलौने सबसे पहले तो बच्चों को उलझाए रखते हैं। माँ-बाप को इसमें एक सुविधा दिखती है कि बच्चे उनका मगज नहीं चाट रहे हैं। मगर उस बात को छोड़ें। खिलौने से खेलते हुए बच्चे एक तरफ़ अपनी सहज प्रवृत्तियों का प्रदर्शन भी करते हैं तो दूसरी ओर अपनी बहुत-सी शक्तियों का विकास भी अनजाने करते चलते हैं। लंबाई और चौड़ाई, ऊँचाई और मोटाई, सीधे और टेढ़े, समतल और ढालू, ठोस और नरम और लचीले, चिकने और खुरदुरे, दूर और पास, ऊँचे और नीचे, हलके और भारी, क्रिया और प्रतिक्रिया आदि का बोध उन्हें खिलौनों से खेलते हुए ही होता है। अपने विभिन्न अंगों के सामर्थ्य का भी उन्हें ज्ञान होता है—उसकी पहुँच का भी और उसकी सीमा का भी। कह सकते हैं कि खिलौनों के सहारे समस्त गोचर संसार से बच्चे का संबंध जुड़ता है—गोचर संसार की पहचान और उसके पर्यवेक्षण के लिए खिलौने एक सहज साधन हैं—इतने सहज हैं कि इस स्तर की शिक्षा का श्रेष्ठ उपकरण बन जाते हैं। इसी निमित्त से स्वयं अपनी पहचान उसमें विकसित होती है और समस्त वास्तविक जगत से उसका एक रिश्ता जुड़ता है। बच्चे के खेल उसके यथार्थबोध के निर्माण में योग देते हैं।

सामूहिक खेलों में इन गोचर अनुभवों से आगे बढ़कर और भी कई तरह की शिक्षा बच्चे को मिल जाती है जिन्हें उसकी सामाजिकता की नींव माना जा सकता है। सहयोग और प्रतियोगिता, अपने

अधिकारों के दावे और दूसरे के अधिकारों का सम्मान, नियमबद्ध आचरण आदि की बुनियादी शिक्षा भी उसे खेल में मिलती रहती है।

अब हम **बाल** मनोविज्ञान की बात से आगे बढ़कर खिलौनों के द्वारा सामाजिक दीक्षा के क्षेत्र में आ गए हैं, यानी खिलौनों के समाजशास्त्र की बात आरंभ हो गयी है। लेकिन खिलौनों को सिर्फ़ बच्चों के साथ न जोड़कर हम पूरे सांस्कृतिक संदर्भ में ही रखना चाहते हैं। खिलौने हर सभ्यता में होते हैं; लेकिन उसके साथ ही हर सभ्यता में कुछ खिलौने और कुछ खेल 'अच्छे' माने जाते हैं और दूसरे खिलौने या खेल 'घटिया'। खेलों के बारे में समाज की धारणाओं से हम समाज की सांस्कृतिक दृष्टि के बारे में तो अनुमान लगा ही सकते हैं; यह भी आसानी से समझ सकते हैं कि समाज की मूल्यदृष्टि कैसे जाने या अनजाने बच्चे के मूल्यबोध को विशेष दीक्षा या रुझान दे रही है। कुछ समाजों में ऐसे खेलों को महत्त्व दिया जाता है जिनमें प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्द्धा के भाव बढ़ें, जबकि दूसरे समाजों में यही बार-बार सुनने को मिलेगा कि 'सबको मिलकर खेलना चाहिए', 'साथियों से होड़ नहीं करनी चाहिए'। स्पष्ट ही ये दो मूल्य दृष्टियाँ दो अलग-अलग प्रकार की संस्कृतियों को प्रतिबिंबित करती हैं। यह नहीं कि कोई संस्कृति निरपवाद रूप से एक प्रवृत्ति को मान्यता देती है, पर अपेक्षिक रूप से कुछ को वरीयता या प्रधानता तो दी ही जाती है और यह हो नहीं सकता कि बच्चों के खेलों को नियंत्रित करती हुई ये उनके चरित्र को, स्वभाव को अपने-अपने साँचे में न ढालें।

लड़कों और लड़कियों के खिलौने अलग-अलग होते हैं। उनकी विकासमान रुचियाँ भी अलग-अलग लीकें पकड़ती हैं और माता-पिता उन्हें जो खिलौने देते हैं उनका चयन करते हुए इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन्हें वैसे ही खिलौने दिये जाएँ जिनसे उनका विकास उन्हीं दिशाओं में हो जिन्हें माँ-बाप वांछनीय समझते हैं; उनके वैसे ही संस्कार पड़ें जैसे माँ-बाप उनके विकास के लिए उपयोगी समझते हैं। यहाँ भी यह नहीं कि अभिभावक प्रकृति के विरुद्ध जाना चाहते हैं; जैविक या प्राकृतिक विकास के ऊपर वे एक स्पष्ट सांस्कृतिक छाप भी गहरी डाल देना चाहते हैं, एक सामाजिक संस्कार देना चाहते हैं। 'लड़के गुड़ियों से नहीं खेलते', 'लड़के रसोई का खेल नहीं खेलते', 'लड़के घरौंदे नहीं बनाते', 'लड़कियाँ कबड्डी नहीं खेलतीं', 'पेड़ों पर नहीं चढ़तीं', इत्यादि। लगातार लड़कों और लड़कियों द्वारा खेले जाने वाले खेलों और उनके लिए सुलभ किए जाने वाले खिलौनों के नियंत्रण से लड़कों को उन कर्मों की ओर प्रेरित किया जाता है, उन कुशलताओं की दीक्षा दी जाती है, जो युवक के लिए उपयोगी मानी जाती हैं; और इसी प्रकार लड़कियों को निरंतर उन दक्षताओं की ओर प्रेरित किया जाता है जो आगे चलकर युवती या परायी घर की बहू के या कालांतर में माता के लिए उपयुक्त होंगी। इस प्रकार खिलौनों के सहारे बच्चे धीरे-धीरे उस भूमिका में उतारे जाते हैं उस 'रोल' में ढलते रहते हैं, जो वयस्क होने पर उनका होने वाला है—स्वयं उनकी दृष्टि में नहीं, बल्कि उनके माता-पिता, अभिभावक और समाज की दृष्टि में, बच्चों को समाज में उस 'रोल' के लिए तैयार किया जा रहा है जो समाज की उस समय की सभ्यता की दृष्टि से उसका उचित

रोल होगा। बहुत-सी चीज़ों को हम 'सहज प्रवृत्ति' मानते हैं जब कि वास्तव में वे सांस्कृतिक परिवेश का परिणाम होती हैं। उदाहरण के लिए, पुरुष और स्त्री की शरीर-रचना में ऐसा भेद तो है कि स्त्री की **चाल** स्वाभावतया पुरुष की अपेक्षा लचीली और लयमय हो, लेकिन ऐसा कोई भेद नहीं है कि पुरुष सीना तानकर चले, स्त्री **सकुचाती** हुई। ये अंतर प्रकृत नहीं, सांस्कृतिक दीक्षा का परिणाम हैं। इस तरह के अनेक अंतर होते हैं जो लड़के या लड़की के संस्कार में इतने गहरे बोये जाते हैं कि सहज प्रवृत्ति जैसे जान पड़ें, लेकिन जो होते हैं सांस्कृतिक दबाव और दीक्षा का परिणाम ही और यह सांस्कृतिक 'साँचा' उसी समय से काम में आने लगता है जबसे लड़कियाँ-लड़के खिलौनों से खेलना आरंभ करते हैं। हम यह तो कह सकते हैं कि आधुनिक समाज में इस तरह के अंतर लगातार कम होते जा रहे हैं, लेकिन अगर यह बात सच भी है तो उसका मतलब यही है कि आधुनिक सभ्यता में खेल-खिलौनों के द्वारा जो दीक्षा दी जाती है उसमें इन भेदों पर ज़ोर नहीं दिया जाता, बल्कि कुछ दूसरे प्रकार के रोल अदा करवाने का प्रशिक्षण लड़के-लड़कियों को दिया जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि बदल गयी है। सांस्कृतिक मूल्य दूसरे हैं, लेकिन खिलौने अब भी सांस्कृतिक उपकरण हैं, बच्चों को एक विशेष समाज के लिए उपयोगी बनाने का, एक विशेष प्रकार के नागरिक बनाने का काम कर रहे हैं, एक विशिष्ट साँचे में ढालने का काम कर रहे हैं।

पारंपरिक खिलौनों की ओर ध्यान देने से और भी बहुत-सी चीज़ें स्पष्ट हो जाती हैं। खिलौनों के माध्यम से बच्चों का संबंध बाह्य या गोचर संसार से बनता और निरूपित होता हो इतना ही नहीं है, उनका आभ्यंतर संसार भी उससे बनता है और बनाया जाता है। नाना प्रकार के पूर्वाग्रहों की भी दीक्षा उन्हें मिलती है और दी जाती है। खिलौनों के सहारे बच्चों को मानव समाज या किसी देश की सभ्यता में ही दीक्षित नहीं किया जाता बल्कि जातियों, वर्गों, पेशों आदि के सारे पूर्वाग्रह भी खिलौनों के माध्यम से उनके मानस में गहरे उतार दिये जाते हैं। खिलौनों के सहारे बच्चा केवल अच्छा मनुष्य ही नहीं बनता, अच्छा हिंदुस्तानी या अँग्रेज़ या रूसी या जापानी भी बनता है और देशगत संस्कारों के साथ-साथ अपने सारे वर्गगत रुझान और पूर्वाग्रह भी ओढ़ लेता है। खिलौनों के सहारे अफ़सर का बेटा अफ़सरी के पूर्वाग्रह अपनाता है, व्यापारी का बेटा व्यापारी के, सिपाही का बेटा सपाही के, और किसान का बेटा किसान के। अच्छा मनुष्य या अच्छा हिंदुस्तानी ही नहीं, अच्छा इंजीनियर, अच्छा कारीगर और अच्छा किसान बनाने में खिलौनों का योग होता है।

हमारे देश की पारंपरिक सभ्यता में खिलौने इतना ही नहीं करते, खेल-ही-खेल में यह भी संभव बना देते हैं कि ब्राह्मण का बेटा न केवल ब्राह्मण मूल्य अपना ले बल्कि आजकल के ब्राह्मण के सारे पूर्वाग्रह भी अपना ले—उसी की लालसाएँ और दुश्चिंताएँ और तिकड़म, आत्मरक्षा की युक्तियाँ आदि सब! इसी प्रकार जाट का बेटा जाट मनोवृत्ति की दीक्षा पा लेता है और बनिये का बेटा बनिये की, या कायस्थ का बेटा कायस्थ की, इत्यादि। खिलौने, खेल, कहावतें, चुटकुले,

गीत, 'साँग' और 'तमाशा'—सारी वाचिक और दृश्य परंपरा एक सिलसिलेवार शिक्षाक्रम में जुड़ जाती हैं और सारे जातिगत, कर्मगत, प्रदेशगत पूर्वाग्रह इस शिक्षा के अंग होते हैं। खेलों और खिलौनों के सहारे इस तरह के संस्कार पाए हुए बच्चे बड़े होकर शिक्षा या तर्कबुद्धि के सहारे भले ही उदारतर मूल्यों को अपनाने की बात करें, उनके अनजाने उनका आचरण इन पूर्वाग्रहों से नियंत्रित और निर्धारित होता रहता है। वे बातें करते हैं 'मानव समाज' की और 'मानव न्याय' की, लेकिन व्यवहारतः पक्षधर बने रहते हैं उस अँश समाज या वर्ग या जाति की जिसके पूर्वाग्रह में वे दीक्षित हुए हैं।

यह नहीं कि ऐसा सर्वत्र या हमेशा बेईमानी या पाखंडीपन के कारण होता है। असल में ये संस्कार इतने गहरे होते हैं और हमारा भावना-जीवन हमारे तर्क-जीवन पर इतनी आसानी से हावी हो जाता है कि जबतक कोई बहुत सतर्क होकर अपने आचरण की परीक्षा न करता रहे और पूर्वाग्रहों से अपने को उबारने के लिए लगातार कठिन तपस्या न करता रहे, तबतक अपनी चेतना को उनके दबाव से बचाए रख ही नहीं सकता। वास्तव में यही इन पूर्वाग्रहों की उपयोगिता भी है। अगर हम समाज को एक स्थिर और स्थायी ईकाई मान सकते तो कहते कि इन्हीं पूर्वाग्रहों के सहारे तो हर जाति, हर वर्ग अपना समाज निर्दिष्ट आचरण करता रहता है, अपना 'धर्म' निबाहता रहता है और समाज का उपयोगी और सहयोगी अंग बना रहता है। लेकिन समाज ऐसे स्थिर और स्थितिशील नहीं होते—और आधुनिक युग में हो ही नहीं सकते, बल्कि आज वैसी स्थितिशीलता को कठमुल्लापन या प्रतिगामिता या भाग्यवादिता ही मानना होगा, तथापि पारंपरिक समाज में इस प्रकार पाए हुए पूर्वाग्रहों की एक सामाजिक उपयोगिता होती थी, और लिखे हुए नियमों अथवा विधि-विधानों के सहारे के बिना ही समाज का हर अंग, बिना संघर्ष के और नियम के भीतर अपना काम करता रहता था।

आज न केवल वैसी स्थिति नहीं है और ऐसे पूर्वाग्रह समाज की प्रगति में बाधक हैं, बल्कि आज समाज में संघर्ष भी अनिवार्य है और एक सीमा तक वांछनीय भी है। आधुनिक सभ्यता के खिलौने इस आवश्यकता के दबाव के साथ बहुत कुछ बदले भी हैं और नये खिलौने बहुत दूर तक नए नागरिक के निर्माण में योग दे सकते हैं—खिलौने और खेल उन्हीं प्रवृत्तियों और कौशलों को बढ़ावा देते हैं जो आधुनिक सभ्यता के संदर्भ में एक अच्छे नागरिक से अपेक्षित हैं—लेकिन खेद की बात यही है कि आधुनिक सभ्यता भी बहुत महँगी और उपकरणों के भार से लदी हुई है—और उसके खिलौने भी उतने महँगे हैं, उसके खेल भी उतने जटिल उपकरण माँगते हैं। जातक कथाओं के अनुसार प्राचीन काल में श्रेष्ठी के बेटे भी धूल से खेल लेते थे और एक व्यापारी के बेटे ने धूल से खेलते हुए ही एक मुट्ठी धूल उठाकर बोधिसत्त्व को दान दी थी (जिसके कारण कालांतर में उसे धरती का साम्राज्य मिला)। आज भी प्रौढ़ वय के अधिकतर लोग स्मरण करेंगे कि उनके बचपन में खेलने के लिए लंबे-चौड़े लवाज़मात की कोई ज़रूरत नहीं होती थी और कस्बों-देहातों में तो बच्चे बिना किसी भी उपकरण

के अपने लिए खेल रच लेते थे। या तो यों कहें कि उस समय के प्रचलित खेल ही ऐसे थे कि उनके लिए साज़-सामान की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। लेकिन आज? आज के बच्चे को वैसी स्थिति में छोड़ दीजिए तो वह अपने सामने केवल अपने को पाकर घबरा ही जाएगा। लगातार साज़-सामान से (या दूसरों से) घिरे रहना उसके लिए मानो अनिवार्य हो गया है—क्या यही अपने आप में आज की सभ्यता पर एक टिप्पणी नहीं है? 50 वर्ष पहले भी गाँव-देहात में बच्चे आँखमिचौनी खेलते थे तो गाते थे—

लुक-छिप जाना
मकई दा दाना
राजा दा बेटा आया जे

जो स्पष्ट ही उस समय के किसान की ओर अनाज की वसूली के लिए निकले राजा के बेटे की मनोवृत्ति का प्रतिबिंबन करता है। आप चाहें तो यह परिणाम भी निकाल सकते हैं—और वह सही होगा—कि किसान में अनाज को छिपाकर रखने का संस्कार इतना गहरा था कि उसे सहज प्रवृत्ति ही माना जा सकता है। लेकिन आज के सभ्य समाज के आठ-दस बच्चों को बिना साज़-सामान के छोड़ दीजिए और देखिए वे क्या गुल खिलाते हैं। वे सब मानों जंगल में खो जाएँगे और अकेले हो जाएँगे। और उस परिस्थिति में उन्हें शायद तोड़फोड़ के सिवा कुछ नहीं सूझेगा। हाँ, चाबी से चलने वाले खिलौने हों या टी.वी. पर भीड़-भड़क्के के खेल हों, मुक्केबाजी और मार-काट या और किसी तरह की हिंसा हो तब उनका मन खूब लगा रहेगा।

आज़ादी से पहले तक विभिन्न प्रदेशों के पारंपरिक खिलौने सस्ते भी मिलते थे, सुंदर भी होते थे, हस्तशिल्प के अच्छे नमूने भी होते थे यात्राओं से ऐसे खिलौने लाने का चलन भी था जिस से समाज का शिशु वर्ग सामाजिक ढाँचे से परिचित होता चलता। लखनऊ के खिलौने सारे देश में प्रसिद्ध थे और कला की दृष्टि से अद्वितीय थे। जयपुर की अपनी शैली थी और वहाँ के खिलौने भी दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। बनारस के लकड़ी के खिलौनों की अपनी एक परंपरा थी। नाथद्वारा के खिलौने अपने ढंग के अलग थे और यही उनका विशिष्ट आकर्षण था। आंध्र की अपनी शैली थी और खिलौनों के माध्यम थे। दक्षिण के यात्री प्राय: सरकंडे के गूंदे के काँच मढ़े खिलौने लाते थे। कर्नाटक की अपनी शैली थी। बँगाल के अपने खिलौने थे बल्कि अन्य प्रदेशों की तरह वहाँ भी एक से अधिक परंपरा और शैलियाँ थीं। ओडिसा के अपने खिलौने थे। केरल नारियल के खोल और मूंज के अपने विशिष्ट ढंग के खिलौने बनाता था। आज ये सब अजायबघरों की वस्तुएँ हो गयी हैं।

नि:संदेह समाज बदलता है और उसे बदलना चाहिए और प्रतिमुखी होकर जीर्ण परंपराओं के लिए बिसूरने का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन खिलौने से बच्चे का संबंध केवल खिलौने और बच्चे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि पूरे समाज और संस्कृति से जुड़ा हुआ है। इसलिए आज भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि एक समग्र रचनात्मक अंत:संबंध के लिए खिलौनों के बारे में जो रचनाशील दृष्टि अपेक्षित है, क्या हम उसके लिए कुछ नहीं कर सकते।